REVIEW OF RESEARCH
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF) UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514 ISSN: 2249-894X
VOLUME - 8 | ISSUE - 4 | JANUARY - 2019

हिंदी के आरंभिक आलोचक : मिश्रबंधु

बृज किशोर वशिष्ट
एसोशिएट प्रोफेसर, मोतीलाल नेहरु कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रस्तावना :

आलोचना हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। खड़ी बोली हिंदी गद्य के विकास के साथ ही आलोचना भी विकसित हुई है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र को हिंदी का प्रथम आलोचक माना जाता है। प्रभाकर माचवे के शब्दों में, "…. जिसे सचमुच आधुनिक दृष्टि से आलोचना की पुस्तक कहा जाए वह हिंदी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का 'नाटक' नामक निबंध है, जो 1883 में लिखा गया।"[1] द्विवेदी युग तक आते-आते आलोचना परिपक्व होने लगती है और उसके विविध प्रकारों का विकास होने लगता है। इनमें तुलनात्मक आलोचना विशेष उल्लेखनीय है। हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की भांति ही द्विवेदी जी ने आलोचना को व्यवस्थित रूप प्रदान किया, "हिंदी में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने समालोचना के क्षेत्र में व्यवस्थापन और अनुशासन लाने का प्रयत्न किया। पत्रकारिता और समालोचना को एक दृष्टि से देखा। उन्होंने समालोचना के कर्तव्य निर्धारित करते हुए लिखा – किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।"[2]

आलोचना के विकास में मिश्रबंधुओं का अप्रतिम योगदान है। वे उन आलोचकों में से एक हैं जिन्होंने हिंदी आलोचना को गति प्रदान की। रमेश दवे के शब्दों में, "मध्यकाल में आलोचना को प्रारंभिक अप्रौढ़ता एवं अपरिपक्वता से निकाल कर विकास की ओर ले जाने का कार्य मिश्रबंधुओं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। इस काल में आलोचना का शास्त्रीय रूप विकसित हुआ और निर्णयात्मक आलोचना का तथा तुलनात्मक आलोचना का भी पूर्ण विकास लक्षित हुआ।"[3] मिश्रबंधु रीतिवादी आलोचना के आरंभिक आलोचक हैं। श्यामबिहारी मिश्र एम.ए., शुकदेव बिहारी मिश्र बी.ए. और गणेशबिहारी मिश्र इन तीन भाइयों का सम्मिलित संबोधन मिश्रबंधु है। हम सामान्यतः मिश्रबंधुओं को उनकी आलोचनात्मक कृति-'हिन्दी नवरत्न' और साहित्येतिहास 'मिश्रबंधु विनोद' के कारण जानते हैं। परंतु मिश्रबंधुओं ने साहित्य की कई विधाओं में विपुल साहित्य

की रचना की है। उनके नौ काव्य संकलन, सात उपन्यास, सात नाटक, तीन निबंध संकलन इवान ग्यारह आलोचनात्मक रचनाएँ उपलब्ध हैं। 'आत्मानुभव' नाम से उनकी आत्मकथा भी मिलती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न देशों के इतिहास लेखन का कार्य भी किया है। जर्मनी, फ्रांस, रूस, जापान, इंग्लैंड, स्पेन, चीन, भारत, मिश्र, यूनान, इटली, टर्की, फारस, अमरीका, पूर्तगाल, हॉलैंड, डेन्मार्क, स्विट्ज़रलैंड, ऑस्ट्रिया, स्वीडन, नॉर्वे आदि देशों के इतिहास लेखन पर उन्होंने अपनी कलम चलाई है।

मिश्रबंधु आलोचना के महत्त्व को भली-भांति समझते थे। उन्होंने आलोचना के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए 'हिंदी नवरत्न की भूमिका में लिखा है कि, "बहुत लोगों की रुचि इतनी उन्नत नहीं होती कि वह सब प्रकार की रचनाओं में उचित भेद समझ सकें। जो लोग इस विषय में अधिक समय लगा सकते हैं उनका कर्त्तव्य है कि वे लोग ग्रन्थों के यथातथ्य गुणदोष बताकर ऐसे मनुष्यों की रुचियों की भी उचित उन्नति करें।"[4] आगे वे आलोचना के उद्देश्य पर भी विचार करते हैं। उनके अनुसार, "समालोचना किसी एक कवि का हाल ही नहीं बताती वरन साधारण पाठक समाज में औचित्य का वर्णन भी करती है। फिर प्रत्येक पाठक की रुचि भिन्न हुआ करती है परंतु वह अपनी रुचि के अनुरूप सब ग्रंथ खोजने में सदैव समर्थ नहीं होता। समालोचना से प्रति ग्रंथ असली स्वरूप साधारण पाठक के सन्मुख बिना उस ग्रंथ के पढे ही उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार समालोचना से उचित पुस्तकों के चुनाव में भी लोगों को बड़ी सहायता मिलती है। एक प्रकार से समालोचना उत्तम ग्रन्थों को जीवनदान और बल प्रदान करती है।"[5] आलोचना किस प्रकार नए लेखकों की सहायता करती है इस पर विचार करते हुए उनका कथन है कि , "भविष्य के लेखकों और कवियों के लिए समालोचना गुरु का काम करती है क्योंकि उन्हें वह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना उत्तम है और सभ्य समाज में आदर पा सकती है। यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण के कारण एक ही दामों आँके जाने लगे तो संसार में उत्तम पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जावे।"[6]

मिश्रबंधुओं की दृष्टि में शास्त्रबद्धता होते हुए भी एक प्रकार की नवीनता है। मिश्रबंधुओं की आलोचना दृष्टि की इसी विशेषता पर विचार करते हुए डॉ. नगेन्द्र का कथन है, "इस युग में छायावाद की पीठ थपथपाने वाले आलोचक केवल मिश्रबंधु थे, जिनकी आलोचनात्मक दृष्टि चाहे जैसी अस्थिर रही हो पर व्यापक अवश्य थी। विदेशी साहित्य के अध्ययन से उनके मन में उदारता आ गई थी। इसी कारण वे नवीनता और विविधता का स्वागत करने की क्षमता रखते थे। फिर भी आधुनिक काव्य की आलोचना का रूप अपने शैशवकाल में पूर्णतया अनुदार रहा।"[7] इस कथन से यह सिद्ध होता है कि मिश्रबंधुओं के लेखन में नयापन होते हुए भी स्थिर, संतुलित और सूक्ष्म आलोचना दृष्टि का अभाव था। रामदरश मिश्र का कथन है कि, "मिश्रबंधु एक ओर नया होने का प्रयास कर रहे थे, दूसरी ओर पुरानी साहित्यिक मान्यताएँ उनका पीछा कर रही थीं। इस प्रकार उनके पुराने रीतिवाद और नए आदर्शवाद का एक बड़ा दृष्टिहीन असंतुलित संयोग दिखाई पड़ता है। नई वस्तुओं को बटोरने में उनकी ललक तो अवश्य थी, किंतु उनका सही मूल्यांकन कर सकने की न तो उनमें क्षमता ही थी, न ही दृष्टि।"[8]

मिश्रबंधु अपने समय की अंग्रेज़ी आलोचना से परिचित थे और अपने लेखन में वे इसका प्रयोग करने की मंशा भी रखते थे। 'हिंदी नवरत्न' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि, "अंग्रेज़ी या वर्तमान विचारों से कवियों

की जाँच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं - कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या संदेश है? इन प्रश्नों का प्रयोग हिंदी नवरत्न के कवियों पर करने से वे कैसे उतरते हैं, सो यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है।"[9] आलोचना की आवश्यकता पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि, "समालोचना से हर एक ग्रंथ का असली रूप साधारण पाठक के सम्मुख, बिना उसके पढ़े ही, उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार समालोचना से उचित एवं उपयोगी पुस्तकों के चुनाव में भी लोगों को बड़ी सहायता मिलती है। सत्य समालोचना मान्य ग्रंथ को जीवन और बल देती है। ऐसे ग्रंथों की संख्या बढ़ाने में भी समालोचना परम पटु या समर्थ है; क्योंकि जब उसके द्वारा निकृष्ट ग्रंथों का मान न होने पावेगा, तब श्रेष्ठ ग्रंथ आप ही अधिक बनेंगे। भविष्य के लेखकों और कवियों के लिए समालोचना गुरु का काम करती है, क्योंकि उन्हें वह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है और सभ्य समाज में आदर पा सकती है।"[10] कवि का संदेश और उसकी अभिव्यक्ति का तरीका अगर दोनों पूरी ईमानदारी से आलोचना में स्थान पा जाते तो मिश्रबंधुओं की आलोचना श्रेष्ठ किस्म की बन जाती। उन्होंने अपनी इच्छा तो ज़ाहिर की लेकिन इसे पूरी तरह निभा नहीं सके।

'हिंदी नवरत्न' में मिश्रबंधुओं ने तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, भूषण, केशवदास, मतिराम, चन्द और हरिश्चंद्र के काव्य की आलोचना की है। उन्होंने इन कवियों का तीन श्रेणियों में विभाजन किया है। उनके अनुसार, "कविताओं के मुकाबिला करने की प्रकृति के अनुसार अन्य कवियों के विषय में भी यही किया गया तो नवरत्न में बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी नामक तीन विभाग स्थिर हुए। बृहत्त्रयी में तुलसो सूर और देव को स्थान मिला, मध्यत्रयी में बिहारी, भूषण और केशवदास को तथा लघुत्रयी में मतिराम, चंद और हरिश्चंद्र को। मध्यत्रयी और लघुत्रयी में तो जिस प्रकार नाम पूर्वापर क्रम से ऊपर लिखे हैं उसी प्रकार वह कविगण उत्तमता में भी एक दूसरे के आगे पीछे दृढ़तापूर्वक समझ पड़ते हैं, पर बृहत्त्रयी में यह बात नहीं है और बहुत प्रकार से विचार करने पर भी उन तीन कवियों में न्यूनाधिक कोई भी नहीं समझ पड़ा।"[11] बाद के संस्करण में कबीर को भी स्थान दिया है। 'त्रिपाठी बंधु' शीर्षक बनाकर दोनों भाइयों महाकवि भूषण त्रिपाठी और महाकवि मतिराम त्रिपाठी को एक साथ ही रखा गया ताकि संख्या नौ ही बनी रहे।

रीतिकालीन कवि देव को तुलसी और सूर के समकक्ष स्थान दिया है। यह उनकी आलोचना की सीमा का उद्घाटन करता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस पर कड़ी टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, "जिसने उच्च भावों का उद्बोधन नहीं किया; जिसने समाज, देश या धर्म को अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुँचाया; जिसने मानव चरित्र को उन्नत करने योग्य सामग्री से अपने काव्यों को अलंकृत नहीं किया - यदि वह भी महाकवि या कविरत्न माना जा सकेगा तो प्रत्येक देश क्या, प्रत्येक प्रांत में भी, सैंकड़ों महाकवि और कविरत्न निकल आवेंगे।"[12] शृंगारिकता उनके यहाँ महत्त्वपूर्ण पैमाना है। देव और बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करना एक तरह से तुलसीदास के अवदान का सही आकलन नहीं करना है। एक अन्य स्थल पर द्विवेदी जी ने लिखा है कि, "रामचरितमानस पर एक बहुत ही उपादेय और मनोरंजक पुस्तक लिखी जा सकती है। तुलसीदास की कविता की विशेषताएँ; तुलसीदास की उपमा में; तुलसीदास का चरित्र-चित्रण; तुलसीदास के प्राकृतिक दृश्य; तुलसीदास की राजनीति; तुलसीदास की साधारण नीति; तुलसीदास की वर्णित देशभक्ति, पितृभक्ति; भ्रातृभक्ति

और पतिभक्ति आदि पर लिखने के लिए बहुत सामग्री है। खेद की बात है, हिंदी-नवरत्न के विद्वान लेखकों ने इस सामग्री का यथेष्ट उपयोग नहीं किया। जहाँ कहीं इन विषयों पर उन्होंने कुछ लिखा भी है वहाँ मार्मिकता से नहीं लिखा।"[13]

मिश्रबंधुओं की आलोचना दृष्टि में आलंकारिकता के गुण को देखा सकता है। इस तरह की दृष्टि में काव्यांग की कसौटी अन्य जीवन मूल्यों पर भारी पड़ती है। धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य' में इस पर विचार करते हुए कहा गया है कि, "मिश्रबंधुओं की समीक्षा का आधार भी मूलतः अलंकारवादी ही है। वे कवियों के कलापक्ष पर ही अधिक विचार कर पाए हैं। मिश्रबंधुओं ने देश-काल की सामग्री का उपयोग किया है। वे कवियों की जीवनी पर भी विचार करते है।"[14] इस बारे में रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का कथन दृष्टव्य है, "यह अवश्य है कि मिश्रबंधुओं ने इस प्रकार की समालोचना के द्वारा जितना प्रकाश आलोच्य वस्तु की बहिरंग बातों (काव्याङ्गो रस, अलंकारादि, भाषा एवं परंपरागत ऐसे ही विषयों) पर डाला है उतना अंतरंग बातों (कृति की अंतर्वृत्ति, अनुभूति व्यंजना, मानसिक प्रवृत्ति आदि) पर नहीं डाला। सत्समालोचना के उस प्रारम्भिक रूप एवं काल के लिए यही बहुत और बस था। उस समय जनता भी इतनी तैयार न थी कि बहुत उच्चकोटि की गहन या गूढ विवेचना तथा मार्मिक आलोचना को समझ सके।"[15] रामदरश मिश्र का मिश्रबंधुओं की आलोचना के विषय में मत है कि, "मिश्रबंधु भी रस-परंपरा के ही समर्थक ज्ञात होते हैं और रस-परंपरा का समर्थन करते हुए उन्होंने साहित्य के सर्वमान्य आलंबनों, उद्दीपनों आदि के घेरे में ही साहित्य के स्थायी मूल्यों का आकलन किया है। सामाजिक, मानसिक परिपार्श्व में वे कवियों की कृतियों की व्याख्या नहीं कर सके हैं। अतएव आलोचना के नवीन व्याख्यात्मक रूप का सम्यक प्रस्फुटन उनकी आलोचनाओं में नहीं हो सका है। तो भी लगता है कि वे आलोचनाओं के नए रूपों और समय की बदलती हुई प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक अवश्य थे।"[16]

देव पर विचार करते हुए उनका कथन है कि, "देवजी की कविता में जो गुण है वह अद्वितीय है। ऐसी उत्तम कविता किसी कवि के किसी ग्रंथ में एक स्थान पर नहीं पाई जाती। जैसे उत्तम छंद इनकी कविता में सैंकड़ों पाए जाते हैं वैसे उत्तम छंद किसी की कविता में किसी स्थान पर न निकलेंगे।"[17] मिश्रबंधु देव की कविता में काव्यशास्त्र के इन उपकरणों की उपस्थिति होने मात्र से न सिर्फ उन्हें दूसरे कवियों से श्रेष्ठ मान लेते हैं बल्कि वे खुद भी चमत्कृत हो जाते हैं। देव से वे इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने उनकी प्रशंसा में एक छंद भी लिखा है-

देव सुकवि ने बिरच छंद अनुपम टकसाली।
भाषा की सरवोच्च दिखाई छटा निराली।।
देस-देस की विसद तरुनि गन बरन सुनाया।
कर बरनित प्रति जाति सभी का रूप दिखाया।।
दस अंग काव्य, बैराग, त्यों राग भेद सब कुछ कहा।
सब कबियों में यह एक कबि भाषा का राजा रहा।[18]

मिश्रबंधुओं ने तुलसीदास के काव्य में कई प्रकार के दोष दिखाए हैं। हिंदी नवरत्न के 140 पृष्ठ उन्होंने तुलसीदास पर लिखे हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मिश्रबंधुओं के साहस की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "जो मनुष्य समाज के भय की परवाह न करके अपने मन की बात कह डालने से नहीं हिचकता उसके मानसिक बल और वीरत्व की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। जिस समाज में विचार-स्वातंत्र्य नहीं वह चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता। और, जिस साहित्य में स्वतंत्र-विचार-पूर्ण पुस्तकें नहीं वह कभी उन्नत नहीं हो सकता। हिंदी के सौभाग्य से इस पुस्तक के लेखकों में विचार-स्वातंत्र्य है।"[19] मिश्रबंधुओं द्वारा बताए गए प्रमुख दोषों की गिनती कराने के बाद द्विवेदी जी ने टिप्पणी की है कि, "लेखकों ने तुलसीदास की रामायण तथा इतर ग्रंथों में ये और अन्य अनेक दोष जो दिखलाये उनमे से कितने ही दोषों को काव्यदृष्टि से हम दोष नहीं समझते। उनके संबंध में हम लेखकों से सहमत नहीं।"[20]

मिश्रबंधुओं ने तुलसीदास के जीवन चरित को विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत बाँटकर किंवदंतियों के साथ-साथ अंतर्साक्ष्यों को भी आधार बनाया है, इससे इनकी आलोचनात्मक दूरदृष्टि का पता चलता है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए इन्होंने तुलसी की सभी पुस्तकों से संदर्भ लिए हैं। कबीर और तुलसी की तुलना करते हुए इनका कथन है कि, "यद्यपि महात्मा कबीरदास ने पूरे तौर से निर्गुण ब्रह्म का कथन न करके प्रेम-भाजन तथा पुकार सुनने वाले ईश्वर का उपदेश दिया, तथापि उनके ईश्वर में निर्गुणता का अंश विशेष था, और सगुणोपासना का थोड़ा या कुछ भी नहीं। उनका उपदेश साधारण जनता के लिए इतना ऊँचा था कि वह उसे प्रायः अलभ्य था। इसी प्रकार हिंदु-मुसलमानी मतों को भी एक मानने को भी जनता तैयार न थी। अतएव परमोच्च एवं परमोपयोगी होने पर भी महात्मा कबीरदास की शिक्षा जनता के लिए वैसी लाभदायक नहीं हुई। संसार को एक उपदेशक की आवश्यकता थी, जो अधिक लोकमान्य उपदेशों का प्रचार करे। महात्मा तुलसीदास कबीर साहब से प्रायः सौ वर्ष पीछे हुए। आपने हिंदु-मुसलमानों के मतों में ऐक्य उत्पन्न करने का विचार छोड़कर केवल हिंदुओं की सब शाखाओं के एकीकरण का प्रयास किया। हिंदुओं में एकेश्वरवाद की जो कमी हो गई थी, उसे इन महात्मा ने पूरा किया।"[21] तुलसी विषयक इनके कई मत आज भी युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। जैसे तुलसी की लोकप्रियता का सबसे बड़ा आधार ये उनकी सरल भाषा को मानते थे। इसी आधार पर सूर पर बात करते हुए वे कहते हैं कि, "महात्मा सूरदास आदि कवियों ने भी अच्छी भक्ति दिखाई थे, किंतु कठिन भाषा और शृंगार वर्णन होने के कारण उनके उपदेशों ने वैसा लाभ नहीं पहुँचाया।"[22]

मिश्रबंधु की आलोचना पर कई तरह के प्रभावों को एक साथ देखा जा सकता है। एक तरफ शास्त्रीय आलोचना से उन्हें लगाव था, तो दूसरी तरफ वे पश्चिम की मान्यताओं को भी अपने लेखन में सम्मिलित करना चाहते थे और तीसरी तरफ रसवादी आलोचना भी उन्हें आकर्षित करती थी। ऐसे में इन तीनों में संतुलन स्थापित करने की चुनौती उनके सामने थी। इन तीनों में से शास्त्रीय आधार ही उनकी आलोचना में प्रमुखता पा सका और इसलिए अपनी आलोचना में वे कोई स्थिर प्रतिमान प्रस्तावित नहीं कर सके। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में मिश्रबंधुओं के बारे में लिखा है कि, "कवियों का बड़ा भारी इतिवृत्तसंग्रह (मिश्रबंधु विनोद) तैयार करने के पहले मिश्रबंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ निकाला था जिसमें सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि 'देव' हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। हिन्दी के पुराने कवियों को समालोचना के लिए

सामने लाकर मिश्रबंधुओं ने बेशक जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है।"[23] रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्रबंधुओं की साहित्यिक समझ पर प्रश्न करते हुए लिखा है, "'सूरदास प्रभु वै अति खोटे', 'कारो कृतहि न मानै' ऐसे ऐसे वाक्यों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न कालेकलूटे कृतघ्न। पहला वाक्य सखी की विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है जो उस सखी का राधाकृष्ण के प्रति रतिभाव व्यंजित करता है। इसी प्रकार दूसरा वाक्य विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोदमिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है। यह अमर्ष, यहाँ विप्रलंभ श्रृंगार में रतिभाव का ही व्यंजक है। इसी प्रकार कुछ 'दैन्य' भाव की उक्तियों को लेकर तुलसीदास जी खुशामदी कहे गए हैं।"[24] लगभग इसी बात पर विचार करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं कि, "मिश्रबंधु वह सारी सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं जो आलोचक और इतिहासकार के लिए उपयोगी है। उन्हें काव्यशास्त्र का- विशेषतः रीतिकालीन काव्यशास्त्र का सम्यक ज्ञान था। किन्तु उन्होंने आधुनिक दृष्टि अर्जित करने का विशेष प्रयास नहीं किया था। उसमें वह सहृदयता विद्यमान है जो सुंदर कविता का रस ग्रहण कर सकती है, किन्तु उस रस की व्याख्या करके उसे वे आधुनिक पाठकों के लिए संदर्भवान एवं मूल्यवान नहीं बनाते। वे प्रशंसा कर सकते हैं- समालोचना नहीं।"[25] सृजनात्मक लेखन की तरह आलोचना भी अपने समय के प्रश्नों से टकराती है। उसमें निरंतर प्रश्नाकूलता बनी रहती है। सृजनात्मक लेखक अपने परिवेश की गतिविधियों मसलन आंदोलन आदि से शक्ति अर्जित करता है। इससे उसका लेखन सार्थक बनता है। आलोचक इसे व्यवस्थित करके हमारे सामने खोलता है। मिश्रबंधु तुलनात्मक आलोचना की दृष्टि से तो नए मान स्थापित करते हैं लेकिन वे अपने समय के प्रति आधुनिक रवैया नहीं अपना पाते। उनकी आलोचना का मुख्य उद्देश्य श्रेष्ठ और निकृष्ट सिद्ध करना है। उनकी आलोचना रचना अथवा रचनाकार की विशिष्टताओं का उद्घाटन नहीं करती। नामवर सिंह का कथन है कि, "जीवंत साहित्य के समानांतर जीवंत साहित्य-बोध होता है, जिसमें अतीत की जीवंत स्मृति के साथ ही परिवर्तनशील वर्तमान के प्रति सतत जागरूकता भी होती है। आलोचना का काम इसी संश्लिष्ट समसामयिक बोध को परिभाषित और संगठित करना होता है-स्वयं से अधिक लोगों को इस आत्मबोध के प्रति सतर्क करते हुए उसके निर्माण में सहायता देना है।"[26] लेकिन एक आलोचक के सामने नए प्रतिमान बनाते हुए यह ख़तरा लगातार बना रहता है कि उसे गलत समझा जा सकता है। देव को लेकर जिस आग्रह का शिकार मिश्रबंधु हुए हैं उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने देव, तुलसी और सूर की तुलना के जो आधार बनाए उनसे उनकी आलोचना की सीमा ही उजागर हुई। उनकी आलोचना में सार्थकता का अभाव बना ही रहा। मिश्रबंधुओं की आलोचना प्रशंसात्मक है। वे अपने समय की सृजनात्मकता की पहचान नहीं करते और जिन लेखकों को समीक्षा के लिए चुनते हैं उनकी विशेषताओं का विश्लेषण करने में भी पूरी तरह सफल नहीं हो पाते। यही कारण है कि वे अपने समय और साहित्य पर कोई छाप नहीं छोडते। उनकी आलोचना अत्यंत सरलीकरण का शिकार हो गई है। एक तरफ हम यह कह सकते हैं कि अंग्रेज़ी की आलोचना पद्धति से परिचित होने के कारण उनकी आलोचना में नवीनता है तो दूसरी तरफ यह भी सच है कि रीतिवादी औजारों के कारण उनकी आलोचना में इस नवीन शैली का विकास नहीं हो सका।

इस सबके बावजूद यह कहना समीचीन नहीं है कि मिश्रबंधुओं की दृष्टि पूरी तरह रीतिवादी है। दिसंबर, 1900 में उन्होंने 'हिन्दी काव्य' शीर्षक से एक लंबा निबंध लिखा। इस निबंध में उन्होंने उस समय हिन्दी जगत में चल रहे ब्रज-खड़ी बोली विवाद पर अपना मत रखा। खड़ी बोली का पक्ष लेते हुए उनका कथन है कि, "ब्रज भाषा ललित अवश्य है, पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उसके अतिरिक्त खड़ी या अन्य किसी बोली में आ ही नहीं सकता है। हमारा तो यह मत है कि जैसी भाषा पठित समाज में बोली जाती हो उसी का व्यवहार काव्य में भी होना चाहिए और ऐसी भाषा विशेषरूप में खड़ी बोली ही कही जा सकती है। अतः किसी भाषा की अपेक्षा खड़ी बोली में कविता करना हम अच्छा समझते हैं।"[27] साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि मिश्रबंधुओं की आलोचना में कई स्थानों पर विरोधाभास भी मिलता है। इस पर प्रकाश डालते हुए नंदकिशोर नवल लिखते हैं कि, "हिंदी नवरत्न' के कवियों की आलोचना में मिश्रबंधुओं का ध्यान हमेशा तुलना पर रहा है, इसलिए उसमें कवियों के वैशिष्ट्य पर प्रकाश नहीं पड़ा है और उनमें वैसी त्रुटियाँ निकाल आई हैं, जो उनमें त्रुटियाँ नहीं हैं। इसके अलावा मिश्रबंधुओं की आलोचना में परस्पर विरोधी बातें बहुत मिलती हैं, जैसे किसी दृष्टि से एक कवि को अद्वितीय कहकर दूसरी जगह उसी दृष्टि से फिर दूसरे कवि को भी अद्वितीय कह देना; एक जगह नायिका भेद की निंदा कर दूसरी जगह उसके लिए कवि की प्रशंसा करना आदि।"[28]

कई अंतर्विरोधों के बावजूद मिश्रबंधुओं सजग आलोचक थे। उनकी सजगता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उन्होंने रामचरितमानस में जोड़े गए क्षेपकों की पहचान करने का प्रयास किया है। पाठालोचन की विविध पद्धतियों का उपयोग करते हुए इन्होंने उन स्थलों को खोजा है जो बाद में तुलसी और राम प्रेमियों ने जोड़ दिये थे। तुलसी काव्य में क्षेपक विषयक इनका मत देखिए, "गोस्वामी जी ने अपनी रामायण कबड़िए का गल्ला तो बनाया ही नहीं है कि उसमें जो रख दो, वही खप जाय। उन्होंने पूरा ग्रंथ बनाने में उसके अंग-प्रत्यंगों को अपने ग्रंथ की गुरुता के अनुसार यथा योग्य छोटा या बड़ा बनाया है। अतः जिस किसी स्थान पर कोई अंग बढ़ या घट जायगा, उसी जगह ग्रंथ का रूप बिगड़ जायगा।"[29] मिश्रबंधुओं ने अपनी आलोचना में गुण-दोष निरूपण की शैली का उपयोग भी किया है।

मिश्रबंधुओं की आलोचना शैली तुलना प्रधान है। धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित पुस्तक 'हिंदी साहित्य' में भी इसी मत का समर्थन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि, "मिश्रबंधुओं की समीक्षा भी मूलतः तुलनात्मक और निर्णयात्मक ही है। उसमें स्थूल दृष्टि से श्रेणी विभाजन की प्रवत्ति अत्यधिक है।"[30] हालांकि मिश्रबंधु स्वयं इस बात को कहते हैं कि उनका आलोचनात्मक ग्रंथ तुलनात्मक अध्ययन का नहीं है। देव-बिहारी प्रसंग में वे इस बात को याद भी दिलाते हैं। उनका कहना है कि, "स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी-नवरत्न केवल देव और बिहारी पर नहीं लिखा गया है, बल्कि उसमें नव कवियों पर स्वतंत्र सम्मतियाँ हैं। प्रसंगवश चाहे कहीं किसी से दूसरे का मिलान कर भी दिया गया हो, तथापि यह इस पुस्तक का विषय नहीं है। ग्रंथ प्रत्येक कवि पर स्वतंत्र विचार करता है, तुलनात्मक नहीं।"[31] वे किसी कवि की विशेषताओं का उद्घाटन करने के लिए समकालीन दूसरे कवि को सामने रखकर देखते हैं। जैसे सूरदास की भक्ति पर विचार करते हुए तुलसीदास से उनके द्वारा की गई तुलना को देखिए, "गोस्वामी जी की भक्ति दास-भाव की थी, परंतु इनकी सरल और सखी बात की। यह महाशय श्रीकृष्णचंद्र को अपना मित्र समझते थे, और इसी कारण इन्होंने राधा को भी भला-बुरा कहा है, और जब

श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डांट देते थे।"[32] तुलनात्मक आलोचना में इस बात का ख़तरा हमेशा बना रहता है कि अगर एक को बड़ा सिद्ध करना है तो दूसरे के गुणों को भी अवगुणों की तरह बताना पड़ता है।

मिश्रबंधु की दृष्टि विवेकपूर्ण थी। उन्हें अपनी सीमाओं की समझ थी। नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार, "मिश्रबंधुओं ने कवियों की आलोचनाओं तथा जीवनी आदि विवरणों के उपकरण इकट्ठे किए, किंतु हिन्दी का साहित्यिक इतिहास लिखने की महत्वाकांक्षा रखने वाले इन विद्वानों ने इन उपकरणों से इतिहास का स्थापत्य नहीं तैयार किया। इन उपकरणों का असंबद्ध वास्तविक रूप मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में दीख पड़ता है, जो 'विनोद' के पूर्व ही प्रकाशित हुआ था और जिसमें साहित्यिक इतिहास का, अप्रत्यक्ष रूप से भी, वैसा संकेत नहीं है, जैसा विनोद में है।"[33] यही कारण है कि हम मिश्रबंधुओं के योगदान को कम करके नहीं आंक सकते। नलिन विलोचन शर्मा का इस संदर्भ में कथन है कि, "मिश्रबंधुओं को श्रेय यह है कि 'हिंदी साहित्य का इतिहास', इस नाम से प्रच्छन्न मोह रखते हुए भी उन्होंने 'मिश्रबंधु-विनोद' कहकर ही संतोष कर लिया। यदि वे 'विनोद' को हिंदी साहित्य का इतिहास कहते तो, हिंदी के साहित्यिक इतिहास का अभाव देखते हुए, वह नाम भी क्षम्य माना जाता; उन्होंने ऐसा नहीं किया यह उनके विवेक, अंतर्दृष्टि और अपनी सीमाएं समझने की शक्ति का परिचायक है।"[34]

उपसंहार:

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि मिश्रबंधुओं की आलोचना में युगीन साहित्यिक आवश्यकताओं के अनुरूप प्रयास मिलता है। नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, मिश्रबंधुओं ने रीतिकालीन साहित्यिक प्रतिमानों को नए मानदंडों का रूप देना चाहा, परंतु परिवर्तित परिस्थितियों में उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। मिश्रबंधु नए जीवन के आदर्शों और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे; वे पश्चिमी समीक्षा की नई शैलियों और प्रतिमानों की भी जानकारी रखते थे; परंतु उनका दृष्टिकोण मुख्यतः परंपरावादी था। यही कारण है कि उन्होंने हिंदी के नव सर्वश्रेष्ठ कवियों के चुनाव में और उससे भी बढ़कर हिंदी के साहित्यिक इतिहास के लेखन में जिन परंपरागत विधियों का प्रयोग किया वे नवयुग के हिंदी साहित्यिकों को पूरी तरह मान्य न हुई।[35] इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए रमाशंकरशुक्ल 'रसाल' ने लिखा है कि, "मिश्रबंधुओं ने अध्ययन और मनन करने योग्य विचारपूर्ण आलोचना का मार्ग दिखलाया और तर्कात्मक गंभीर समालोचना के उस रूप को सामने रखने का प्रयत्न किया, जिसमें योग्यतापूर्ण विशद विवेचना और पांडित्यपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन का ही प्राधान्य रहता है। इसके साथ ही इन्होंने पूर्वोक्त पद्धतियों के आधार पर भी आलोच्य पुस्तक के गुण-दोष निरूपण और उसके संबंध में अपने निष्पक्ष और न्यायसंगत निर्णय देते हुए स्वमत प्रकाशन पर भी यथेष्ट ध्यान रक्खा। इस प्रकार इन्होंने प्राचीन परिपाटियों को देश-कालानुसार नवीन जीवन प्रदान किया।"[36] विद्वानों में मिश्रबंधुओं की आलोचना के महत्त्व को नकारा भी गया है। एक उदाहरण दृष्टव्य है, "....उनके हिंदी नवरत्न और मिश्रबंधु-विनोद हिंदी समीक्षा में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं कर

पाए। उनसे समीक्षा पद्धति में किसी अपेक्षाकृत स्थाई एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व का आविर्भाव नहीं हो पाया। उनका इतिहास और जीवनचरित संबंधी विवेचन केवल संकेत और नामोल्लेख मात्र ही माने जाएंगे। मिश्रबंधु पाश्चात्य साहित्य और समीक्षा की गतिविधि एवं आधुनिक परिस्थितियों से परिचित तो थे पर मूलतः पुरातनवादी होने के कारण उनका झुकाव रीतिकालीन साहित्य की ओर ही रहा। साहित्य का जो मानदंड अपनाया गया वह भी मध्यकाल के ही उपयुक्त था। रीतिकाल के ग्रन्थों के प्रभाव से आक्रांत उनकी समीक्षा दृष्टि नवीन सुधार चेतना देने की अपेक्षा पुनरुत्थान की ही प्रेरणा दे पाई।"[37] मिश्रबंधुओं के बारे में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के प्रति उनका प्रेम अनन्य था। साहित्य सृष्टि से उन्हें किसी भी प्रकार के अर्थलाभ का मोह नहीं था। सरकारी-प्रशासनिक कार्यों से समय निकालकर उन्होंने साहित्य की रचना की है। यह उनके हिंदी के प्रति समर्पण का परिचायक है।

संदर्भ :

1. हिंदी आलोचना अतीत और वर्तमान, प्रभाकर माचवे, हिंदुस्तानी एकेड़ेमी, इलाहाबाद, संस्करण 1988, पृष्ठ 4
2. वही, पृष्ठ 12
3. आलोचना-समय और साहित्य, रमेश दवे, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, संस्करण 2006, पृष्ठ 86
4. हिंदी नवरत्न, हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, संस्करण मार्च 1911, प्रयाग, पृष्ठ 2
5. वही, पृष्ठ 2
6. वही, पृष्ठ 2
7. आस्था के चरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 1968, पृष्ठ 321
8. हिंदी समीक्षा : स्वरूप और संदर्भ, रामदरश मिश्र, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 46
9. हिंदी नवरत्न, हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, संस्करण मार्च 1911, प्रयाग, पृष्ठ 8
10. वही, पृष्ठ 18-19
11. वही, पृष्ठ 8
12. समालोचना समुच्चय, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्र. रामनारायन लाल, इलाहाबाद, संस्करण 1930, पृष्ठ 208-209
13. वही, पृष्ठ 222
14. हिंदी साहित्य, संपादक धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिंदी परिषद, प्रयाग, प्रथम संस्करण 1969, पृष्ठ 596
15. आलोचनादर्श, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', द इंडियन प्रैस, इलाहाबाद, संवत 1997, पृष्ठ 105
16. हिंदी आलोचना : प्रवृत्तियाँ और आधारभूमि, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 50
17. हिंदी नवरत्न, हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, संस्करण मार्च 1911, प्रयाग, पृष्ठ 216
18. वही, पृष्ठ 218

19. समालोचना समुच्चय, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक रामनारायन लाल, इलाहाबाद, संस्करण 1930, पृष्ठ 200
20. वही, पृष्ठ 203
21. हिंदी नवरत्न, हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, संस्करण मार्च 1911, प्रयाग, पृष्ठ 74
22. वही, पृष्ठ 75
23. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, बतीसवाँ संस्करण, संवत 2054 वि., पृष्ठ 289
24. वही, पृष्ठ 289
25. हिंदी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007, पृष्ठ 32
26. छायावाद, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1990, पृष्ठ 200
27. हिंदी आलोचना का विकास, नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007, पृष्ठ 59
28. वही, पृष्ठ 66
29. हिंदी नवरत्न, हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, संस्करण मार्च 1911, प्रयाग, पृष्ठ 77
30. हिंदी साहित्य, संपादक धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिंदी परिषद, प्रयाग, प्रथम संस्करण 1969, पृष्ठ 596
31. हिंदी नवरत्न, हिंदी ग्रंथ प्रसारक मंडली, संस्करण मार्च 1911, प्रयाग, पृष्ठ 343
32. वही, पृष्ठ 232
33. साहित्य का इतिहास दर्शन, नलिन विलोचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, प्रथम संस्करण 1960, पृष्ठ 85
34. वही, पृष्ठ 85-86
35. आलोचना पत्रिका, संपादक : शिवदान सिंह चौहान , राजकमल प्रकाशन, अक्तूबर, 1952। (लेख- हिंदी आलोचना : नन्ददुलारे वाजपेयी), पृष्ठ 176
36. आलोचनादर्श, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', द इंडियन प्रैस, इलाहाबाद, संवत 1997, पृष्ठ 104-105
37. हिंदी साहित्य, (संपादक) धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिंदी परिषद, प्रयाग, प्रथम संस्करण 1969, पृष्ठ 596

LBP PUBLICATION